LEARN GEETA
तस्मात् योगी भवार्जुन

॥ श्रीहरिः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 13: क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

2/3 (श्लोक 8-15), शनिवार, 05 जुलाई 2025

विवेचक: गीता विशारद डॉ आशू जी गोयल

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/SdAVV4cVeaE

ज्ञानी के लक्षण

सुमधुर प्रार्थना, श्रीहनुमान चालीसा पाठ, दीप-प्रज्वलन और गुरु वन्दना के साथ ऋषिकेश में माँ गङ्गा के पावन तट से आज के सत्र का आरम्भ हुआ। आज परम सन्त श्री गुलाबराव महाराज की जयन्ती भी है। परम पूज्य स्वामी जी महाराज इस संसार का सर्वश्रेष्ठ सन्त श्री गुलाबराव महाराज को मानते हैं। उनकी पुण्यतिथि में आज उनको प्रणाम अर्पित करते हुए, उनको स्मरण करते हुए आज के सत्र का आरम्भ किया गया।

पूज्य स्वामी जी महाराज का प्रतिवर्ष गीता-साधना शिविर आयोजित होता है। उस साधना शिविर के अन्तर्गत हमें गङ्गा जी के पावन तट पर श्रीमद्भगवद्गीता का चिन्तन करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। हमारे सभी श्रोताओं को भी आज गङ्गा जी के प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो रहे हैं। आज हम गङ्गा जी के तट पर उनकी छत्रछाया में श्रीमद्भगवद्गीता का चिन्तन कर रहे हैं।

हम आज तेरहवें अध्याय का चिन्तन कर रहे हैं। यहाँ श्रीभगवान् ने ज्ञानी के बीस गुण बताए हैं कि ज्ञानी में क्या-क्या गुण होते हैं या फिर किस में ये गुण हों जिसे ज्ञानी कहा जाए? श्रीभगवान् ने सातवें श्लोक से आरम्भ किया।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में कुल नौ गुणों के विषय में बताया है-"श्रेष्ठता के अभिमान का भाव, दम्भाचरण का भाव, किसी प्राणी को किसी भी प्रकार से न सताना अर्थात् क्षमा भाव, मन तथा वाणी की सरलता, श्रद्धा एवं भक्ति से गुरु की सेवा, बाहर तथा अन्दर की शुद्धि, अन्तःकरण की सरलता तथा मन एवं इन्द्रियों से इस शरीर का निग्रह।"

गत सप्ताह हमने एक गुण पर चिन्तन किया- **अमानित्वम** अर्थात् स्वयं पर मान नहीं करना, स्वयं पर अभिमान नहीं करना। कोई मेरी प्रशंसा करता हो तो भी उसे प्रशंसा नहीं मानना तथा प्रशंसा की आशा तो करना ही नहीं। हमारे मन में रहता है कि मूल्यवान वस्त्र पहनना, महँगी वस्तुओं का प्रयोग करना, महँगे आभूषण पहनना या अधिक सुन्दर घर की कामना करना, ये सब कामनाएँ हमारे मान को बढ़ाती हैं। अमानित्व का अर्थ है- मेरे मन में इन बातों का आकर्षण कम हो जाए, मुझे अपना मान बढ़ाने के लिए बहुमूल्य वस्तुओं या किसी महान व्यक्ति के साथ अपना फोटो लेने की आवश्यकता नहीं है। श्रीभगवान् कहते हैं कि हमारे अन्दर यह इच्छा जितनी अधिक होगी, मान की उतनी अधिक इच्छा बढ़ेगी तथा जितनी अधिक मान की इच्छा होगी, हम उतना अधिक ज्ञान से दूर हो जाएँगे। श्रीभगवान् ने ज्ञानी का प्रथम लक्षण अमानित्व को बताया है अर्थात् जिसके अन्दर मान की लालसा न रहे।

श्रीभगवान् ने दूसरा गुण **अदम्भित्व** बताया है। यहाँ श्रीभगवान् ने दो बातें बतायी हैं। उन्होंने मान को अलग लिया तथा दम्भ को अलग लिया। हम सब उसे एक जैसा ही मान लेते हैं। श्रीभगवान् जिस बात पर अधिक जोर देना चाहते हैं, उसके लिए अलग-अलग शब्द छाँट कर लाते हैं। दम्भित्व अर्थात् दम्भ जिसका अर्थ होता है- दिखावा अर्थात् हम जैसे नहीं हैं, वैसे दिखना चाहते हैं या हम जैसे हैं,

उससे अधिक दिखना चाहते हैं। हम जितने अधिक सम्पन्न हैं, उससे अधिक सम्पन्न दिखना चाहते हैं। हम जितने शिक्षित हैं, उससे अधिक शिक्षित दिखना चाहते हैं। जितने सुन्दर हैं, उससे अधिक सुन्दर दिखना चाहते हैं। जितनी भक्ति हम करते हैं, उससे अधिक भक्ति दिखाना चाहते हैं, जिससे समझें कि हम बहुत अधिक भक्ति करते हैं अर्थात् हम जैसे नहीं हैं, वैसे दिखना चाहते हैं।

अपने गुणों को अधिक बढ़ाकर दिखाने की आदत प्रायः हम सब में होती है और हम यह चाहते हैं कि सबको यह मान लेना चाहिए कि हम ऐसे ही हैं। हम जिन भी बातों का दम्भ करते हैं तो यदि कोई हमसे पहली बार मिल रहा है, तब वह हमारी बात मान लेगा, इसकी सम्भावना तो थोड़ी-बहुत होती है किन्तु जिनसे हमारा निरन्तर सम्पर्क रहता है, उन्हें हम कितना भी दिखावा कर लें, वे हमारे दम्भ को स्वीकार नहीं करते हैं। वे हमारे सम्मुख तो भले ही कुछ न भी कहें पर हमारी अनुपस्थिति में तो कहते ही हैं।

वानप्रस्थ आश्रम, ऋषिकेश में एक बहुत सुन्दर उद्धरण लिखा हुआ है। यह उद्धरण स्वतः ही सबका ध्यान आकर्षित करता है। वानप्रस्थ आश्रम के प्रथम द्वार से प्रवेश करते ही वह सुवाक्य लिखा हुआ है-

"हम वैसे नहीं होते, जैसा हम स्वयं को मानते हैं। हम वैसे होते हैं, जैसा दूसरे हमें मानते हैं।"

हम स्वयं को जैसा मानते हैं, वैसे वास्तव में नहीं होते हैं क्योंकि हम दूसरों के सामने दिखावा करके स्वयं को प्रस्तुत करते हैं। हम वास्तविकता में वैसे ही होते हैं जैसा दूसरे हमें मानते हैं। इस प्रकार जिसकी स्वयं की मान्यता में तथा दूसरों की मान्यता में अन्तर न रहे, उसके जीवन का सत्य उतना अधिक होता है इसलिए जीवन में दम्भ का आश्रय लेने वाला असत्य अधिक बोलता है। जीवन में जितना अधिक दम्भ होगा, दिखावा होगा, उतना अधिक हम असत्य बोलकर उस दिखावे से व्यक्तियों को प्रभावित करना चाहते हैं। वह असत्य वास्तव में कोई मानता नहीं है।

मुख्य बात एक और है। जो जितना अधिक दम्भ करता है, उसकी गुणवानों के लिए परख कम हो जाती है। वह दूसरों को भी अपने जैसा ही मानता है। उसे लगता है कि जिस प्रकार मैं दिखावा करता हूँ, उसी प्रकार दूसरे भी दिखावा ही करते होंगे और इसलिए जो असली गुणवान व्यक्ति हैं, उनकी परख करने में वह भूल करता है। इस कारण उसके सम्पर्क से अनेक बार बहुत सारे अच्छे व्यक्ति भी छूट जाते हैं। दूसरी बात, हम जब दम्भ करते हैं तो हम यह चाहते हैं कि हमारे सामने वाले व्यक्ति हमारे इस दम्भ पर भरोसा करें लेकिन वे ऐसा नहीं करते हैं तो हम अन्दर से अत्यन्त परेशान या क्षुब्ध होते हैं और अनेक बार तो विवेचन के प्रश्नोत्तर में अनेक भाई-बहन ऐसा पूछते भी हैं कि मेरे आस-पास बहुत आसुरी व्यक्ति रहते हैं, मैं उनसे कैसे बचाव करूँ? जब हम दूसरे व्यक्ति को आसुरी कहते हैं और स्वयं को दैवीय कहते हैं, उसी क्षण हमें समझ जाना चाहिए कि हम दम्भ कर रहे हैं। जिस क्षण हमने यह मान लिया कि हमारे आस-पास के लोग तो आसुरी सम्पदा के हैं और हम स्वयं दैवीय सम्पदा वाले हैं तो हमें यह समझ जाना चाहिए कि यहीं से सारी गड़बड़ शुरू हो जाती है। यह पहली पहचान है कि हमारी अन्य व्यक्तियों के बारे में परख उपयुक्त नहीं है तो अपने बारे में तो बिल्कुल ही ठीक नहीं है। यह भूल हममें से अनेक व्यक्ति करते आ रहे हैं। यह दम्भ की पहचान होती है इसलिए बहुत सावधान होकर इस आसुरी गुण को अपने अन्दर से निकालना चाहिए।

सोलहवें अध्याय में भी श्रीभगवान् ने कहा है-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।

अर्थात् उन्होंने आसुरी गुणों में दम्भ को सबसे पहले माना है और यह गुण श्रीभगवान् का सबसे अधिक अप्रिय गुण है इसलिए हम जैसे हैं, वैसे ही दिखें, अकारण दिखावा न करें। हम दिखावा करते-करते स्वयं को वैसा मानने लगते हैं तथा असत्य को ही सत्य मानने लगते हैं इसलिए दम्भ से बचना चाहिए।

तीसरी बात श्रीभगवान् ने कही है- **अहिंसा**। साधारण रूप में किसी जीव को न सताना अहिंसा मानी जाती है किन्तु जब ज्ञानी की दृष्टि से अहिंसा का विचार किया जाता है तो उसका स्तर इससे थोड़ा अधिक बढ़ाना पड़ता है। **मनसा, वाचा तथा कर्मणा** अर्थात् मेरे द्वारा किसी को कष्ट न हो, मैं यदि कोई शब्द बोलूँ और वह किसी को चुभ जाए, पीड़ा पहुँचाए, यह हिंसा है। मैं जो विचार करता हूँ, उससे दूसरे व्यक्ति की हानि का विचार करता हूँ तो यह भी हिंसा है। यह वैचारिक हिंसा है। मानसिक हिंसा, वैचारिक हिंसा, वाणिक हिंसा और शारीरिक हिंसा, हमें इन सभी का विचार करना चाहिए।

सबसे महत्त्वपूर्ण है मानसिक हिंसा। हमें सोचना चाहिए कि हम मन से कितने हिंसक हैं। अनेक व्यक्ति कहते हैं कि मैं तो कुछ बोलता ही नहीं, मैं तो कुछ कहता ही नहीं, मैं इससे इतना परेशान हूँ कि मैं तो अब कुछ कहता ही नहीं हूँ। आप यह बात ध्यान रखिए कि आप कुछ न कह कर भी सब-कुछ कहते रहते हैं और हिंसा ही करते रहते हैं। किसी के भी विषय में द्वेष भाव रखना या कमतर

भाव रखना, हीन भाव रखना हिंसा ही है। सबके अपने अवगुण हैं, मेरे भी हैं और सामने वाले के भी। हम में से ऐसा कोई नहीं है जिसमें कोई गुण नहीं है या कोई अवगुण या कोई दोष नहीं है, इसलिए दूसरे के दोषों के कारण उसे अधिक दोषी मान लेना और अपने दोषों को अनदेखा करके स्वयं को गुणवान मान लेना, यह न्यायोचित नहीं है। यह हिंसा है। हम किसी के प्रति हिंसा न करें। अनेक बार व्यक्ति कहते हैं कि मैं ऐसी बात सुना कर आया हूँ कि उसे एक सप्ताह तक निद्रा नहीं आएगी। आज मैंने उसे इतना सुनाया है। यह आपने अच्छा काम नहीं किया है। यह आपसे बहुत बड़ा पाप हो गया है। आपने किसी का दिल इतना अधिक दुःखा दिया कि वह एक सप्ताह तक सो नहीं सके, यह हमारे हाथ से बहुत बड़ा पाप हो गया है। हमें इसका भी विचार करना चाहिए। यदि किसी में कुछ कमी है भी तो भी हमें भूल से भी उसे कोई पीड़ादायक बात नहीं करनी चाहिए। हम उस समय चुप भी रह सकते हैं। हम उस बात को टाल भी सकते हैं। हमें दूसरे व्यक्ति के हृदय को पीड़ा पहुँचाने की आवश्यकता नहीं है। हमसे भी तो भूल होती है। जब हमसे भूल होती है तो हम नहीं चाहते कि कोई आकर हमें पीड़ादायक बातें सुनाए। जब हम अपने लिए ऐसा नहीं चाहते, तब हम दूसरे के लिए भी ऐसा न करें। यह अहिंसा है। जैसे व्यवहार की हम स्वयं के लिए अपेक्षा नहीं करते, वैसा व्यवहार हमें दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार की वाणी की अपेक्षा हम अपने लिए नहीं करते, उसका प्रयोग हम दूसरे के साथ भी न करें। जो विचार हमें स्वयं के लिए दूसरों के द्वारा कहना अच्छा नहीं लगता, वह हमारे मन में दूसरे के लिए भी उत्पन्न न हो। यह अहिंसा है। मेरे द्वारा किसी भी जीवमात्र को कष्ट न हो। हमें यदि कभी तुलसीपत्र निकालना हो तो हमें तुलसी माता की आज्ञा लेकर उसे निकालना चाहिए, जैसे माता आपका तुलसी पत्र हमें लेना है, हम ले रहे हैं। भूमि से एक पत्थर भी उठाना है तो भूमि से आज्ञा लेकर उठाना चाहिए। नदी में स्नान करना है तो नदी की आज्ञा लेकर स्नान करना चाहिए।

हमारी संस्कृति कितनी वैचारिक है! हमें इसका विचार करना चाहिए। जिन वस्तुओं को हम जड़ मानते हैं, उनका भी सम्मान करके, उनकी आज्ञा लेकर ही फिर हम उनका उपभोग करते हैं इसलिए जो कुछ भी हमारे आस-पास है, हम उसके मालिक हैं, ऐसा सोचना गलत है। हमें ऐसा नहीं मानना चाहिए कि हमने भूमि खरीदी तो हम उसके मालिक हो गए। हम भूमि खरीदते हैं तो भूमि-पूजन करते हैं। भूमि माता से आज्ञा लेते हैं कि हम आपके ऊपर गृह-निर्माण करना चाहते हैं। भूमि-पूजन का अर्थ है उस स्थान का पूजन करके हम वास्तुदेव को प्रसन्न करके, उनसे आज्ञा माँगते हैं कि अब इस भूमि पर हम अपना घर बनाना चाहते हैं। आप हमें आज्ञा दीजिए। हमने भूमि क्रय करके उसका पञ्जीकरण करवा लिया तो हमें घर बनाने का अधिकार नहीं मिल जाता, इसलिए जीवमात्र, प्राणीमात्र, विश्व, किसी को भी कष्ट न हो। पेड़-पौधों को भी मुझसे कोई कष्ट न हो। मैं जोर से न बोलूँ, मेरे स्वभाव में कोमलता हो, यही अहिंसा है।

चौथी बात श्रीभगवान् ने कही है- **क्षान्ति** अर्थात् क्षमाभाव। जब क्षमा करके क्षमा का भाव मन में रहे तब वह क्षमा नहीं है। जब क्षमा करने वाले को याद भी नहीं रहता कि मैंने किसी को क्षमा किया था, तब वास्तविक क्षमा होती है। अङ्ग्रेजी में दो बहुत सुन्दर शब्द हैं- **forgive and forget** अर्थात् क्षमा किया तथा भूल गए और यदि हम ऐसा विचार करेंगे कि मैंने उसे इतनी बार माफ किया तो हमने कहाँ क्षमा किया? हम उसे बार-बार याद करके बैठे हैं- इतनी बार क्षमा किया। यदि हमने क्षमा किया तो हमें याद कैसे है? यदि हमने किसी को क्षमा किया और वह हमारी स्मृति में है तो इसका अर्थ है कि हमने उसे क्षमा नहीं किया। अनेक बार माता-पिता बच्चों को डाँट देते हैं। माँ बच्चे से कहती है, "तुम्हें मैंने पहले भी यह बात कही थी और कुछ नहीं कहा था।" बच्चे कई बार मन में सोचते हैं कि इससे अच्छा तो आप उसी दिन कह लेतीं। उसके बाद आप सौ बार यह बात बता चुकी हैं कि मैंने उस दिन नहीं कहा। यह बात माता ने सौ बार बताई तो उन्होंने सौ बार बता दिया न कि क्षमा किया। "मैंने तुझे कुछ नहीं कहा" यह कहकर हम बार-बार कहते हैं, तो यह क्षमा नहीं है। क्षमा ऐसा गुण है जो कोई देना नहीं चाहता लेकिन चाहिए सबको होता है। हमसे यदि कोई गलती हो जाए तो यह सामने वाले से हम अपेक्षा करते हैं कि वह हमें क्षमा कर दे। हममें से कोई भी नहीं चाहता कि उसे उसकी भूल का दण्ड मिले। क्षमा का भाव मन में स्थिर हो जाए। हम दूसरे की निन्दा न करें, दूसरे के अन्दर दोष न देखें, असली क्षमा वही कर सकता है।

अर्जुन की विशेषता यही है। सामने वाले के अपराध को छोटा मानना, यही सच्ची क्षमा है। हम सबके अन्दर एक कमी होती है। अपने अपराध को हम छोटा करके मानते हैं तथा दूसरे के अपराध को, जितना वह होता है, उससे बड़ा करके मानते हैं, यह न्यायोचित नहीं है।

पाँचवाँ गुण है **आर्जवम**। जीवन में सरलता आ जाए। मैं जैसा हूँ, वैसा ही दिखता हूँ। जब श्रीराम ने शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश दिया, उस समय श्रीभगवान् कहते हैं-

नवम सरल सब सन छलहीना मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

अर्थात् जो छल से रहित है, जो दूसरों के साथ कपट नहीं करता, जिसकी वाणी में असत्य नहीं है, जो दूसरे के साथ दिखावा नहीं करता, जैसा है वैसा ही दिखता है। अष्टावक्र गीता में महर्षि अष्टावक्र ने इसे सर्वश्रेष्ठ गुण बताया। साधक का सर्वश्रेष्ठ गुण आर्जवम् है।

मैं कितनी सादगी एवं कितनी सरलता से अपना जीवन जी रहा हूँ। मैं जैसा हूँ, वैसा दिखूँ। शबरी ने केवल सरलता के गुण के कारण श्रीभगवान् का दर्शन प्राप्त किया। सरलता इतना बड़ा गुण है। यह दिखने में बड़ा साधारण है लेकिन सबसे कठिन है। हम जैसे हैं वैसे ही लोगों को दिखें, उसके अतिरिक्त कुछ भी न दिखें। अनेक व्यक्ति मेरी प्रशंसा करते होंगे तो भी मुझे तो ज्ञात है न कि मैं क्या हूँ।

एक बार सेठ जयदयाल जी गोयन्दका, जो गीताप्रेस के संस्थापक थे, उनसे किसी ने प्रश्न किया कि सेठजी आप जहाँ जाते हैं, सब व्यक्ति आपकी बहुत प्रशंसा करते हैं तो जब कोई आपकी प्रशंसा करता है तो आपके मन में क्या विचार आता है? क्योंकि आप तो उसे ग्रहण नहीं करते, यह हमें पता है। सेठजी ने उत्तर दिया कि मैं तो केवल इतना विचार करता हूँ कि सामने वाला उदार है जो अकारण मेरी इतनी प्रशंसा कर रहा है। यह उसके मन की उदारता है। यह बात सुनने में साधारण लगती है किन्तु यदि हम सूक्ष्मता से विचार करेंगे तो यह विचार ही हमारे जीवन को बदल देगा। यदि कोई हमारी प्रशंसा करता है तो यह उसकी उदारता है, यह हमारी कोई विशेषता नहीं है। यह सरलता का भाव अमानता का भाव है। श्रीमद्भगवद्गीता में दो स्थानों पर गुरु का महत्त्व बताया गया है- चौथे अध्याय के चौंतीसवें श्लोक में तथा तेरहवें अध्याय के सातवें श्लोक में।

आचार्य की उपासना, गुरु की सेवा, गुरु के प्रति भक्ति का भाव। परम पूज्य स्वामी जी महाराज ने भी इस विषय पर बात करते हुए कहा कि गुरु की सेवा का यह अर्थ नहीं है कि जाकर गुरु के चरण दबाना या गुरुजी के लिए कोई सामान लेकर आना, गुरुजी के लिए वस्त्र लेकर आना। जिसे इस प्रकार का अवसर प्राप्त हो, वह करे, यह भी अच्छी बात है किन्तु यह अवसर सभी को प्राप्त नहीं होता है। गुरु की सेवा का अर्थ हुआ- उनके अनुकूल व्यवहार करना। जैसा गुरुजी चाहते हैं, मैं वैसा रहूँ। यह गुरु की सच्ची सेवा है। गोस्वामी जी कहते हैं-

"गुरु बिन ज्ञान न होई"

गुरु के बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता। हम अपने जीवन में गुरु को कितना महत्त्व देते हैं? उनके वचनों के अनुकूल हम स्वयं को कितना बना सकते हैं? कितना बना पाते हैं? पूज्य स्वामी जी कहते हैं कि हम गुरु को मानते हैं पर गुरु की नहीं मानते। यही सारी गड़बड़ है। **गुरु को** मानने की आवश्यकता नहीं है, **गुरु की** मानने की आवश्यकता है। जिस दिन हम गुरुजी की मानना शुरू कर देंगे, अपने आप गुरुजी की सेवा शुरू हो जाएगी। हमने गुरुजी को एक लाख रुपये दिए या उनके लिए वस्त्र बनवा दिए या उनके लिए कुछ सामान लाकर दिया, उनके चरण दबा दिये, उनके भोजन की व्यवस्था कर दी, यह भी गुरु सेवा है किन्तु यह प्रारम्भिक सेवा है। गुरु की उच्च सेवा वह है जब हम गुरु के अनुकूल वर्तन करते हैं, जैसा वे चाहते हैं, हम वैसा बनते हैं।

एक उदाहरण से इसे समझते हैं। आप सबने अरस्तू का नाम सुना है। अरस्तू सुकरात के शिष्य हैं। प्लेटो उनके शिष्य हैं। यह तीनों तीन पीढ़ी के गुरु-शिष्य की परम्परा है, जो अत्यन्त दुर्लभ है। अरस्तु के शिष्य प्लेटो भी हैं और सिकन्दर भी हैं। सिकन्दर अपने गुरु से अत्यधिक प्रेम करते हैं, अद्भुत प्रेम करते हैं। सिकन्दर के अन्दर अनेक अच्छी बातें तथा बुरी बातें भी होंगी किन्तु उसकी गुरुभक्ति अत्यन्त प्रगाढ़ है। अरस्तू के भी सिकन्दर अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। अक्सर ऐसा होता कि जब सिकन्दर अरस्तू के पास आते तो वह वहाँ अरस्तू के आश्रम में कुछ दिन रहते तथा अरस्तू उन्हें अपने साथ निसर्ग पहाड़ी पर ले जाते। वहाँ कुछ अच्छी बातें बताते और वापस आ जाते। उनका यही क्रम रहता। वे प्रातःकाल जाते तथा सन्ध्याकाल तक वापस आते। एक बार जब सिकन्दर अरस्तु से मिलने गए तो अरस्तू उन्हें ऊपर निसर्ग पर्वत पर लेकर गए। पहाड़ी पर वर्षा आरम्भ हो गयी तथा उन्होंने कहा कि चलो, चलते हैं। दोनों चलने लगे। संयोग ऐसा हुआ कि जब वह वापस लौटने लगे तो वर्षा के कारण मार्ग पर एक पहाड़ी नदी का निर्माण हो गया। पर्वतों पर ऐसा होता है कि जब अत्यधिक तीव्र वर्षा होती है तो पहाड़ी नदी का निर्माण हो जाता है। जिस समय वर्षा नहीं होती, वह सूखी रहती है और जिस समय वर्षा होती है वह नदी की तरह बड़ी हो जाती है। जब पहाड़ी नदी का निर्माण हो गया तो दोनों को चिन्ता हुई। अरस्तू ने कहा कि चिन्ता की कोई बात नहीं है। मैं इस मार्ग से प्रतिदिन आता जाता हूँ, तुम मेरे पीछे आओ। सिकन्दर ने कहा कि नहीं! रुकिए, आप मेरे पीछे चलिए। सिकन्दर राजा था, बोलता भी थोड़ा जोर से था। अरस्तू सौम्य थे, वे गुरु थे। सिकन्दर ने जब जोर से कहा तो अरस्तू को अच्छा नहीं लगा। उन्हें लगा कि यह मेरा शिष्य है, इसे इतनी जोर से नहीं बोलना चाहिए। वे सिकन्दर के पीछे हो गए। सिकन्दर आगे बढ़े, अरस्तु का हाथ पकड़ा और नदी के पार लेकर चले गए। जब वे नदी पार करके उस पार पहुँचे, तब अरस्तू ने कहा कि सिकन्दर! तुमने आज तक ऐसा नहीं किया। तुमने कभी मुझसे इतनी जोर से बात नहीं की। मुझे स्मरण नहीं कि तुमने कभी मुझसे इस प्रकार से बात की होगी और आज प्रत्यक्ष मेरी अवज्ञा कर दी। मैं कह रहा हूँ कि मैं आगे चलूँगा, मुझे मार्ग पता है किन्तु फिर भी तुमने मेरी बात को काटकर कहा कि नहीं, आप पीछे चलिए मैं आगे चलूँगा। तुमने सोचा कि तुम अपने आप को विशेष महारथी मानते हो। तुमने सोचा कि मैं तो राजा हूँ, सैनिक हूँ, अधिक बलवान हूँ। मुझे तुम्हारी यह बात अच्छी नहीं लगी। सिकन्दर ने हाथ जोड़कर कहा, "नहीं गुरुदेव! आप मुझे गलत समझ रहे हैं। आप कृपापूर्वक मुझे गलत मत समझिए। मैं इसलिए आगे नहीं आया कि मुझ में शक्ति अधिक है बल्कि मुझे ऐसा विश्वास कदापि नहीं था कि मैं अधिक अच्छा तैर सकता हूँ या अच्छी तरह मार्ग में खड़ा रह सकता हूँ। मुझे तो यह शङ्का थी कि कहीं ऐसा हुआ कि मार्ग में जोखिम हुआ और हम दोनों में से किसी को

मरना पड़े तो पहले मैं मर जाऊँ और आप बच जाएँ।" अरस्तु ने आश्चर्य से कहा, "तुम ऐसा क्यों चाहते हो? तुम तो राजा हो। मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ। मैं मर जाता तो क्या बिगड़ जाता? तुम राजा हो। तुमको बचना चाहिए। नीति की दृष्टि से यह उचित नहीं है।" सिकन्दर ने उस समय जो बात कही, वह बहुत अद्‌भुत बात है। सिकन्दर ने कहा, "गुरुदेव! सौ सिकन्दर मिलकर भी एक अरस्तू का निर्माण नहीं कर सकते लेकिन एक अरस्तू मेरे जैसे सौ सिकन्दर का निर्माण कर सकते हैं, इसलिए यदि मरना होता तो मुझे मरना चाहिए था। आप रह गए तो मेरे जैसे सौ और तैयार कर देंगे किन्तु यदि आप चले गए तो आपके जैसा दूसरा गुरु लाने का मेरा कोई सामर्थ्य नहीं है।" यह होती है प्रगाढ़ गुरु भक्ति। आचार्य की उपासना करो, उनको प्रसन्न करो, अपने गुरु के मन के अनुकूल व्यवहार करो। यह ज्ञानी का लक्षण है।

शौच का अर्थ है शुद्धता। अन्तः तथा बाह्य, दोनों की शुद्धता। बाहर की शुद्धता, जैसे हम स्नान करते हैं, हाथ-पैर धोकर भोजन करते हैं, भोजन के उपरान्त हाथ-पैर धोते हैं। बर्तन, वस्त्र, पूजा के वस्त्र आदि धोकर शुद्ध कर लिये। यह सामान्य रूप से बाहर का शौच हो गया लेकिन जब ज्ञानी की बात होती है तब केवल बाहर के शौच की बात नहीं होती। हमारे अन्दर की शुद्धता, हमारे विचारों की शुद्धता, हमारे मन में मलिन विचार आते हैं कि नहीं आते? जिस प्रकार पॉलिश करने से कोई पात्र चमक जाता है, उसी प्रकार यह साधक को चमकाने का कार्य है। जिस प्रकार माइक्रो-फाइबर कपड़े से कुछ पोंछते हैं तो वह चमक जाता है, उसी प्रकार यह शौच साधक के लिए माइक्रो-फाइबर कपड़े का कार्य करता है। मन का शौच, वाणी का शौच, (कहने योग्य वचन कहना- यह वाणी का शौच हो गया), मेरे मुख से ऐसा कुछ निकलता ही नहीं जो मुझे नहीं कहना चाहिए- यह वाणी का शौच है। मेरी प्रत्येक क्रिया में वह दिखना चाहिए। हम कैसे उठते हैं, हम कैसे बैठते हैं, हम कैसे दिखते हैं, हम कैसे प्रतिक्रिया करते हैं, हम किस बात पर क्या व्यवहार करते हैं, किस बात पर क्या विचार करते हैं, यह हमारा शौच है। आजकल बहनों में तथा माताओं में, स्नान करके ही रसोई में जाना है, यह विचार ही कम हो गया है। प्रातःकाल भोजन बनाना होता है। अब एक नया विचार सुनने में आने लग गया है, "अरे! भोजन बनाने में बहुत पसीना निकलता है इसलिए मैं पहले भोजन बना लेती हूँ, तत्पश्चात स्नान करती हूँ।" हमने स्नान करके स्वयं को तो शुद्ध कर लिया किन्तु अशुद्ध अवस्था में जो भोजन बनाया था, उसका क्या? वह भोजन अशुद्ध है। इन बातों का हमें विचार करना चाहिए। ये छोटी-छोटी बातें हमारे जीवन में बहुत अधिक परिवर्तन लाती हैं। हम अपने रसोईघर को, अपने पूजाघर को पवित्र रखें। बिना स्नान के उसका उपयोग न करें। किसी को कठिन लग सकता है पर शास्त्र इस बात की आज्ञा करते हैं। इस बात को श्रेष्ठ बताते हैं।

धैर्य अर्थात् स्थिरता। जीवन में थोड़ी सी स्थिरता और विपरीत परिस्थितियाँ आने पर मेरा मन कितना विचलित होता है? पूज्य स्वामी जी हाल में ही प्रवचन में एक प्रश्न का उत्तर दे रहे थे। उनसे किसी ने प्रश्न किया। उस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया कि लगभग दस वर्ष पूर्व एक घटना हुई। स्वामी जी को रेलगाड़ी से किसी स्थान पर पहुँचना था। सम्भावना थी कि सीट प्राप्त हो जाएगी किन्तु अन्त समय पर टिकट की पुष्टि (कंफर्म) नहीं हुई। जो सज्जन स्वामी जी को स्टेशन छोड़ने आए थे, उन्होंने स्वामी जी से कहा कि आप गाड़ी पर चढ़िए। गाड़ी चलने वाली है। हम व्यवस्था कर देंगे। जाना भी अनिवार्य था, दूसरा कोई विकल्प नहीं था। मार्ग लम्बा था इसलिए अपने वाहन से भी नहीं जा सकते थे। स्वामी जी रेलगाड़ी में चढ़ गए। ऐसा हुआ कि उनको सीट प्राप्त नहीं हुई। स्वामी जी वहीं शौचालय के निकट अपने ही बैग पर बैठ गए। उन्हें देखकर उनके साथ चलने वाले शिष्य रोने लगे और कहने लगे, "स्वामी जी! आप ऐसे कैसे बैठ सकते हैं?" किन्तु स्वामी जी ने जो बात कही, वह वास्तव में सोचने वाली बात है। स्वामी जी ने कहा कि मैं आनन्द से बैग पर बैठा और मैंने कहा कि यदि आप मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं परमात्मा! तो मैं परीक्षा में उत्तीर्ण होकर दिखाऊँगा और मेरे मन में इस विषय में कोई दुःख या पीड़ा होगी या विपरीत विचार आएगा या किसी के ऊपर क्रोध आएगा कि ऐसा कैसे हो गया, उसने कैसे नहीं ध्यान दिया? यह सब तो मेरे मन में आया ही नहीं। मैं अपनी यात्रा का आनन्द ले रहा था। विपरीत परिस्थिति में आनन्द प्राप्त करना अर्थात् ऐसे ही होते हैं ज्ञानी। यह प्रकरण स्वामी जी ने स्वयं अपने मुख से बताया और कहा, "आनन्द की बात यह थी कि मैं इस परीक्षा में शत-प्रतिशत अङ्कों से उत्तीर्ण हुआ। मेरे मन में एक बार भी कोई विपरीत विचार नहीं आया।"

ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसके जीवन में कभी विपरीत परिस्थिति नहीं आएगी। स्वामी जी इतने बड़े सन्त महात्मा हैं किन्तु उनके जीवन में भी ऐसी परिस्थिति आ गई, फिर हम-आप तो कुछ भी नहीं। महत्त्वपूर्ण यह है कि उस विपरीत परिस्थिति में हम अपने मन को कैसे सम्भालते हैं। अपने मन को कैसे शान्त रख सकते हैं, प्रसन्न रख सकते हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

श्रीभगवान् सत्रहवें अध्याय में कहते हैं- "क्या उस समय भी मेरा मन प्रसन्न रहता है?" हम थोड़ी सी भी विपरीत परिस्थिति में बहुत अधिक व्यग्र हो जाते हैं।

नौवाँ गुण श्रीभगवान् बताते हैं- **आत्मविनिग्रह**। हम अनुशासन का पालन केवल तभी तक करते हैं जब तक सामने वाला हमें देख रहा होता है। चौराहे पर यदि यातायात पुलिस वाला चालान नहीं काटेगा, हमें यह बात पता हो, उसके बाद भी क्या हम रुकते हैं?

चालान कट जाएगा इसके लिए रुकते हैं, यह तो एक बात है किन्तु यदि यातायात पुलिस वहाँ पर नहीं है, फिर भी हम नियम का पालन करते हैं कि हमें रुकना चाहिए और सिग्नल पर रुकते हैं, यह आत्म विनिग्रह है। जब हमें कोई नहीं देख रहा होता तब भी हम नियम पालन करते हैं, वह अनुशासन होता है। किसी को पता चलेगा, इस डर से तो हम सभी संयमित तथा अनुशासित जीवन जीते हैं, किन्तु किसी को पता नहीं चलेगा, उस समय भी हम अपने को अनुशासन में रखते हैं- यह **आत्मविनिग्रह** है।

सीता जी के प्रसङ्ग में जानकी जी ने अनुशासन को तोड़ा। लक्ष्मण जी रेखा खीञ्च कर गए और कहा, "माँ! कुछ भी करना, यह रेखा मत पार करना।" वहाँ कोई देखने वाला नहीं था। सीता जी को लगा कि क्या फर्क पड़ता है? एक मिनट में भिक्षा देकर आ जाती हूँ। तो क्या हुआ? सीता जी का अपहरण हुआ। सीता जी को अपनी भूल समझ में आई। जब सीता जी लङ्का पहुँचीं। तृण की ओट लेकर उन्होंने कहा कि मैंने तृण का उल्लङ्घन किया था और एक तिनके की ओट में सीता जी कहती हैं-

तृण धरि ओट कहति वैदेही,

जानकी जी तिनके की ओट लेकर बैठी हैं। रावण आता है और कहता है-

एक बार बिलोकि मम ओरा,

अरे सीता! एक बार तो मेरी ओर देखो। सीता जी तृण की ओट से रावण से बात करती हैं कि जब मैंने अनुशासन तोड़ा था तब तुमने मेरा अपहरण किया था और आज जानकी जी उस तिनके की ओट से रावण से बात कर रही हैं।

13.8

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि, दुःखदोषानुदर्शनम्॥13.8॥

इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य का होना, अहंकार का भी न होना और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियों में दुःखरूप दोषों को बार-बार देखना।

विवेचन- इस श्लोक में श्रीभगवान् ने चार गुणों के विषय में बताया है। पहला गुण वैराग्य है। जिस प्रकार बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार बिना वैराग्य के गुरु नहीं मिलते। गुरुजी मिल गए तो भी ज्ञान नहीं होगा। बिना वैराग्य के मिला हुआ ज्ञान टिकेगा नहीं। जब तक वैराग्य की अग्नि से तप कर नहीं आएँगे, तब तक वह बचेगा नहीं, तब तक मन में आत्मसात नहीं होगा। गुरु पिता के समान हैं और वैराग्य माता के समान है। जीवन में जितनी आवश्यकता गुरु की है, उतनी ही आवश्यकता वैराग्य की भी है। हमारे शास्त्रों में स्त्री का तथा भोगों का विरोध नहीं है। इस तरह का भी कोई विरोध नहीं है कि हम अच्छा-अच्छा नहीं खा सकते, अच्छा नहीं पहन सकते, अच्छी गाड़ी में नहीं बैठ सकते, लेकिन उसमें राग-द्वेष से दूर रहें, यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

दो गुरुभाई थे। उनका नाम रङ्का और बङ्का था। वे बहुत उत्तम साधक थे। गुरुजी के परम शिष्य थे। एक बार दोनों सत्सङ्ग सुनकर लौट रहे थे। इतने में एक भाई को एक सोने की चमकती हुई मुद्रिका दिखाई दी। उसके मन में तत्काल विचार आया कि गुरुजी ने तो बताया है कि पराए धन पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो मुझे तो देखना नहीं है किन्तु दूसरा विचार आया कि मैं तो नहीं देखूँगा, कहीं बङ्का का मन विचलित हो गया तो? ऐसा करता हूँ कि इस पर मिट्टी डाल देता हूँ ताकि बङ्का की दृष्टि इस पर न पड़े। वह पैर के अङ्गूठे से धीरे-धीरे उस मुद्रिका पर मिट्टी डालने लगा किन्तु फिर भी बङ्का की दृष्टि उस मुद्रिका पर भी पड़ गई तथा उस पर मिट्टी डालते हुए अपने भाई रङ्का पर भी पड़ गई। बङ्का ने पीछे से पुकार कर कहा, "अरे रङ्का! इस मिट्टी पर मिट्टी क्यों डाल रहे हो?" रङ्का को आश्चर्य हुआ। उसने बङ्का को प्रणाम किया और कहा, "मैंने इस बात पर विचार किया कि मुझे उसे देखना नहीं है किन्तु तुम्हें तो वह दिखा ही नहीं। तुम्हें तो वह मिट्टी के समान ही दिखा। तुम मुझसे बहुत आगे हो, इसलिए तुम्हें प्रणाम कर रहा हूँ।"

हमें दूसरी कोई वस्तु दिखती ही नहीं है। यह वैराग्य की स्थिति है। जिस बात पर मेरा अधिकार नहीं, उसकी मुझे लालसा ही नहीं होनी चाहिए। हम किसी के घर गए तो उससे कहते हैं कि तुम्हारे घर के पर्दे तो बहुत सुन्दर हैं, तुम्हारा मोबाइल बहुत अच्छा है, तुम्हारा जमाई बहुत अच्छा है, काश ऐसा जमाई मुझे भी मिल जाए! हमें दूसरे की प्रत्येक वस्तु बहुत अच्छी लगती है, यह आसक्ति है। हमारे स्वयं के पास कुछ अच्छा है, उसमें कोई समस्या नहीं है। हमारा मन उसमें अटकता है, यह समस्या है। अच्छी वस्तु हानि नहीं करती

बल्कि अच्छी वस्तु में मन अटकना हानि पहुँचाता है।

व्यक्ति और परिस्थिति, इनके प्रति राग और द्वेष, ये तीनों जीवन को अटकाते हैं, इसलिए बड़े-बड़े महात्मा भी कभी विमान में बैठते हैं, रेलगाड़ी में भी बैठते हैं तथा यदि रेलगाड़ी में सीट आरक्षित नहीं हुई तो नीचे शौचालय के पास भी बैठते हैं। आवश्यकता के अनुसार किसी भी वस्तु का उपभोग किया और कभी स्थिति नहीं है, कुछ नहीं मिला तो भी कोई बात नहीं। साधन तथा भोगों की अपेक्षा नहीं करनी। उसमें राग का भाव नहीं रखना है।

अहङ्कार-रहित होना का अर्थ है अहङ्कार का अभाव। एक सुन्दर दोहा है-

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है हम नाहिं,

प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहिं||

जब तक व्यक्ति अहङ्कार करता रहता है, तब तक उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए कभी अगर आपको अवसर प्राप्त हो तो पञ्चवर्ष पूर्ति महोत्सव पर बाईस जून को लखनऊ में आयोजित हुए हमारे समारोह की नाटिका देखिएगा। हमारे कार्यकर्ताओं ने बहुत सुन्दर नाटिका प्रस्तुत की थी जिसका नाम था भीष्म पितामह का विवाह। सभी को यह नाम सुनकर ही आश्चर्य हुआ कि भीष्म पितामह का विवाह कैसे हो सकता है? नाटिका का आरम्भ शर-शैया से किया गया जिस पर तीन सौ वर्ष के भीष्म पितामह लेटे हैं और वे कहते हैं, "केशव! मुझे विवाह करना है।" यह सुनकर सब आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण जिनका नाम भीष्म पड़ गया, इतनी बड़ी भीष्म प्रतिज्ञा की, कि उनका नाम देवव्रत से भीष्म पड़ गया, वे भीष्म पितामह जीवन की अन्तिम अवस्था में, जिस समय उनके पूरे शरीर में आर-पार करते हुए बाण हैं, उनके जीवन की कोई सम्भावना नहीं है, उस समय में वे विवाह की इच्छा दर्शा रहे हैं। समस्त पाण्डव तथा कौरव हैरान हो गए कि पितामह यह क्या बोल रहे हैं? ऐसा तो नहीं कि मृत्यु के समय उनकी बुद्धि किसी आसक्ति में अटक रही हो? इस कारण वे सम्भवतः मुख से कुछ अनर्गल बोल रहे हों। सब उनसे पूछ रहे हैं और दूसरी ओर श्रीभगवान् खड़े-खड़े मुस्कुरा रहे हैं। अन्त में जब श्रीभगवान् ने देखा कि सब उपस्थित जन हैरान हो रहे हैं, तब उन्होंने पूछा, "पितामह! किसका विवाह करना है?" तो भीष्म पितामह ने उत्तर दिया, "मेरी पुत्री का विवाह करना है।" अब सब और अधिक हैरान हो गये कि आजीवन अविवाहित रहने वाले भीष्म पितामह की पुत्री कहाँ से आ गयी? अभी तक तो अपने विवाह की बात कर रहे थे, अब पुत्री के विवाह की बात कर रहे हैं। तब श्रीकृष्ण ने पूछा, "पितामह! आपकी पुत्री कौन है? उसका किसके साथ विवाह करना चाहते हैं?" तब भीष्म पितामह ने कहा, "आपके साथ करना है।" तब श्रीकृष्ण ने कहा, "क्षमा कीजिए पितामह! मेरी सोलह हज़ार पत्नियाँ पहले से हैं। मैं अब और विवाह नहीं कर सकता लेकिन आपकी पुत्री कौन है? यह तो बताइए। भीष्म पितामह ने कहा, "मेरी बुद्धि मेरी पुत्री है। बचपन से आज तक जिसको पाला है, बड़ा किया है, उस बुद्धि का विवाह मैं आपके साथ करना चाहता हूँ।" सब हैरान हो गए कि पितामह यह क्या बोल रहे हैं? केशव ने कहा, "आपको अपनी बुद्धि का विवाह क्यों करना है?" तो भीष्म ने कहा कि केशव! आप ही ने तो कहा है-

"मय्यर्पित मनो बुद्धि"।

जब तक मुझमें मन और बुद्धि अर्पित नहीं करोगे, तब तक मैं प्राप्त नहीं होता इसलिए हे केशव! जीवन की अन्तिम अवस्था में आप मेरी बुद्धि का हरण तथा वरण कर लीजिए। मुझे आपके सिवा कुछ नहीं चाहिए। मैं मुक्त होकर आपको मिल जाऊँगा। जब तक मेरे पास मेरी बुद्धि है, मैं आपको प्राप्त कर भी लूँ, आपको जान नहीं सकता। आप मेरे सामने हैं और आपको प्राप्त नहीं कर पा रहा हूँ।

यहाँ श्रीभगवान् थोड़ी कठिन बात कहते हैं कि अर्जुन! जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि- इन चार बातों में दुःख है। जन्म लेते समय बच्चा रोता है, मृत्यु के समय भी उसके परिजन रोते हैं, जरा अर्थात् वृद्धावस्था, उसमें भी मनुष्य रोता रहता है कि अरे! अब चला नहीं जाता, बैठा नहीं जाता, उठा नहीं जाता, बोला नहीं जाता, पढ़ा नहीं जाता आदि। व्याधि अर्थात् रोग। उसमें भी मनुष्य दुःखी रहता है। श्रीभगवान् ने कहा कि ज्ञानी वह है जो इन परिस्थितियों में दुःख नहीं करता। जो इन चारों स्थितियों में स्वयं को दुःख से मुक्त कर लेता है, वह ज्ञानी है क्योंकि उसे ज्ञात है-

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं,

पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

अरे! यह तो बार-बार होने वाला है। इसमें क्या बड़ी बात है? दुःख इस शरीर को होता है, मैं तो उस शरीर से परे जीवात्मा हूँ, दुःख शरीर का है, मेरा नहीं है- यह मानने वाला ही ज्ञानी होता है।

13.9

असक्तिरनभिष्वङ्गः(फ्), पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं(ञ्) च समचित्तत्वम्, इष्टानिष्टोपपत्तिषु॥13.9॥

आसक्ति रहित होना, पुत्र, स्त्री, घर आदि में एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना और अनुकूलता-प्रतिकूलता की प्राप्ति में चित्त का नित्य सम रहना।

विवेचन- यहाँ श्रीभगवान् चार बातें कहते हैं- पुत्र, स्त्री, धन और घर। दार का अर्थ है पत्नी। इन चारों में जिसकी आसक्ति नहीं है, जिसकी ममता नहीं है, वह ज्ञानी है। इन चारों में हमारे कर्त्तव्य-बोध होते हैं। ईश्वर ने पुत्र दिया है, हमें पिताधर्म से उसका पालन करना है। ईश्वर ने पत्नी या पति दिया है तो हमें पति या पत्नी धर्म से उसका संरक्षण करना है। धन दिया है, इसका सदुपयोग करना है। घर दिया है, इसका सदुपयोग करना है। मेरा कुछ भी नहीं है। न पुत्र मेरा, न पति मेरा, न पत्नी मेरी, न धन मेरा, न घर मेरा। मैं केवल इन सब का संरक्षक हूँ। आप स्वामी के बजाय इसके न्यासी बन जाइए और यह मानकर कि यह सब श्रीभगवान् का दिया हुआ है, अतः उनकी सेवा में लगाना। पुत्र की इस प्रकार सेवा करना कि ईश्वर प्रसन्न हो जाएँ, पति तथा पत्नी की ऐसी सेवा करनी कि ईश्वर प्रसन्न हो जाएँ, धन का और घर का उपयोग भी इसी प्रकार करना जिससे ईश्वर को प्रसन्नता हो। जिसमें आसक्ति का भाव न हो, बल्कि कर्त्तव्य के पालन का भाव हो। "यह मेरे हैं" इस प्रकार की ममता का भाव रखने से ही हम दुःख प्राप्त करते हैं। हमें यह मानना चाहिए कि ये ईश्वर के हैं, ईश्वर ने मुझे दिए हैं। इस भाव से जब हम रहते हैं तो हमें दुःख प्राप्त नहीं होता। इष्ट तथा अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्त रहना है। जीवन में अपने मन के अनुकूल रहना ही आसक्ति है।

यह बात थोड़ी कठिन है किन्तु समझना है कि केवल कर्म करना ही कर्मयोग का अर्थ नहीं है। हमें अपने चित्त को सम रखकर कर्म करना है। मैं कर्म करूँ तो इष्ट की प्राप्ति होगी तो भी ठीक है, नहीं होगी तो भी कोई दुःख नहीं। अनेक व्यक्ति यह सोचने में या यह जानने में अत्यधिक समय गँवा देते हैं कि मेरे साथ ही ऐसा क्यों हो गया? फिर भी किसी को कुछ पता नहीं चलता, लेकिन इस वृत्ति के कारण उनका अत्यधिक समय व्यर्थ जाता है।

13.10

मयि चानन्ययोगेन, भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिर्जनसंसदि॥13.10॥

मुझमें अनन्ययोग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति का होना, एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव होना और जन-समुदाय में प्रीति का न होना।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि मुझसे अनन्ययोग के द्वारा, अर्थात् न अन्य, ऐसे जुड़ जाओ। मीराबाई कहती हैं-

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई
मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।।

हमारी त्रासदी यह है कि हमारे भरोसे बहुत हैं। द्रौपदी ने श्रीकृष्ण से शिकायत की, कि आप मेरा ध्यान नहीं रखते। श्रीभगवान् ने कहा, "इतना अधिक तो ध्यान रखता हूँ, तब भी तुम शिकायत करती हो।" द्रौपदी ने कहा, "ध्यान तो रखते हैं, पर ठीक से नहीं रखते। जब मेरा चीरहरण हो रहा था, आप बिल्कुल अन्त में आए। यदि कुछ और अधिक विलम्ब हो जाता तो?" श्रीभगवान ने कहा कि अन्त में नहीं आया। जैसे ही तुमने पुकारा, मैं वैसे ही आया। याद करो, जब पहली बार दुःशासन ने चीर को हाथ लगाया, तब तुमने सबसे पहले अपने पाँच पतियों की ओर देखा। तुम्हें लगा कि वे उठकर बचा लेंगे। तब तुमने मेरा आश्रय नहीं लिया। याद करो, उसके बाद भी तुमने मुझे नहीं बुलाया, बल्कि धृतराष्ट्र की ओर देखा, फिर भीष्म की ओर देखा, फिर सभा में सबकी और देखा। उसके बाद भी तुमने मुझे नहीं पुकारा बल्कि तुमने अपने बल से चीर बचाना चाहा और अपने बाहुबल से जोर से उस साड़ी को पकड़ कर रखा लेकिन दुःशासन तो पुरुष है, क्षत्रिय है, उसके अन्दर तो बहुत अधिक बल है। जब तुम्हें लगा कि अब तुम स्वयं को नहीं बचा पाओगी, तब तुमने दोनों हाथ छोड़कर मुझे पुकारा और कहा कि हे कन्हैया! मुझे बचाओ! और जैसे ही तुमने दोनों हाथ छोड़े, सबका आसरा

छोड़कर मेरा आसरा लिया, उसी क्षण मैंने साड़ी पकड़ ली। मैं ऐसे नहीं आता। जब सारे सहारे छोड़कर मुझे स्मरण करते हो, मैं तब आता हूँ।

हम पहले अपनी बुद्धि का सहारा लेते हैं, अपने धन का, अपने सम्पर्कों का सहारा लेते हैं, तब तक श्रीभगवान् नहीं आते। हम जब सारे सहारों को श्रीभगवान् को अर्पित करते हैं, तब वे हमारी सहायता के लिए तत्काल प्रकट होते हैं-

एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।

हमारे तो इष्ट ही प्रतिपल बदलते रहते हैं। किसी को लगता है कि आजकल खाटू बाबा के मन्दिर में माँगने से बहुत जल्दी इच्छा पूरी होती है, तो हम उनके दर पर पहुँच जाते हैं। फिर कोई कुछ और कहता है तो हम वहाँ चले जाते हैं तथा हमारी बुद्धि इधर-उधर भटकती रहती है। यह व्यभिचार है। मन्दिर में जाने में आपत्ति नहीं है, कीर्तन में जाने में आपत्ति नहीं है, किन्तु इधर-उधर जाकर माँगने में आपत्ति है। हम अपने इष्ट को छोड़कर इधर-उधर कुछ-कुछ माँगते हैं तो हमारे इष्ट को अच्छा नहीं लगेगा। सब जगह जाना, सबको प्रणाम करना, किन्तु जो माँगना है अपने इष्ट से माँगना। जो सब जगह माँग करता है, उसकी भक्ति व्यभिचारणी होती है।

हमें एकान्त में रहने का अभ्यास करना चाहिए। वर्तमान समय में हमारा स्वभाव ऐसा हो गया है कि यदि थोड़ी देर इन्टरनेट नहीं आया तो हम कहते हैं कि हम तो बोर होने लगे। हम एकान्त का आनन्द लेने के बजाय ऐसा समझते हैं कि हम तो बोर हो रहे हैं, हमारे पास कुछ करने के लिए नहीं है। ऐसा व्यक्ति ज्ञानी नहीं होता। ज्ञानी को तो एकान्त अधिक प्रिय होता है। मोबाइल की आवश्यकता है क्योंकि उसका उपयोग करना है, किन्तु मोबाइल के बिना रहना भी अच्छा लगना चाहिए।

13.11

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं(न्), तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्, अज्ञानं(म्) यदतोऽन्यथा॥13.11॥

अध्यात्मज्ञान में नित्य-निरन्तर रहना, तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सब जगह देखना - यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो ज्ञान है (और) जो इसके विपरीत है वह अज्ञान है - ऐसा कहा गया है।

विवेचन- हमें स्वयं को यह बात प्रतिदिन याद दिलाने की आवश्यकता नहीं होती कि मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ, परन्तु मैं भक्त हूँ, यह बात याद दिलानी पड़ती है। हमें श्रीभगवान् को भी सहज मान लेना चाहिए। यह नित्य अध्यात्म है। हमारी दृष्टि प्रगति पर रहे। प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा ही कारण हैं, यह विचार करके हमारी दृष्टि कारण पर रहे।

यहाँ तक श्रीभगवान् ने बीस गुण बताये। पाँचवें तथा छठे में क्षेत्र का ज्ञान, सात से ग्यारह में ज्ञान के विषय में बताया तथा बारह से सत्रह में श्रीभगवान् क्षेत्रज्ञ के विषय में बताने वाले हैं।

13.12

ज्ञेयं(म्) यत्तत्प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं(म्) ब्रह्म, न सत्तन्नासदुच्यते॥13.12॥

जो ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञान से जानने योग्य) है, उस (परमात्मतत्त्व) को मैं अच्छी तरह से कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य (अमरता) का अनुभव कर लेता है। वह (ज्ञेय-तत्त्व) अनादिवाला (और) परम ब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता है (और) न असत् ही (कहा जा सकता है)।

विवेचन- श्रीभगवान् यहाँ नयी बात कह रहे हैं। श्रीभगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जो ज्ञान जानने योग्य है, जो जान कर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है, उसको मैं भली-भाँति कहूँगा। जो जानने योग्य है और जिसे जानकर मनुष्य परमानन्द को प्राप्त हो जाता है वह अनादि परम ब्रह्म न सत् है, न ही असत् है। हम अज्ञान को ही ज्ञान मान लेते हैं। क्षेत्र को जानना ज्ञान नहीं है, क्षेत्र के गुण को

जानना ज्ञान है।

कोई लखनऊ से ऋषिकेश आए हैं तो वे लखनऊ के हो गए या लखनऊ से आए हुए हैं? निस्सन्देह वे कहेंगे कि मैं लखनऊ से आया हूँ। कोई भारतीय विदेश जाता है तो कहेगा कि मैं भारत से आया हूँ। क्या यह हो सकता है कि वह कहे कि मैं भारत हूँ? नहीं! हम भारत से आए हैं, हम शरीर में हैं, शरीर हम नहीं हैं। लखनऊ से आए हैं तो हम लखनऊ नहीं हुए, ऋषिकेश आए हैं तो हम ऋषिकेश नहीं हुए। इस तथ्य को हमें समझना है। लखनऊ में हैं तो हम स्वयं लखनऊ में हैं, ऋषिकेश आए हैं तो हम ऋषिकेश में हैं। न हम लखनऊ हैं और न ही हम ऋषिकेश हैं। कुत्ते की योनि में हम जाते हैं तो हम कुत्ता हैं। मनुष्य की योनि में जाते हैं तो हम मनुष्य हैं अर्थात् न हम कुत्ता हैं, न मनुष्य हैं। जिसको यह बात समझ में आयी, जिस की दृष्टि कार्य पर है, कार्य में नहीं, उसकी दृष्टि ज्ञान पर है।

दूध से दही बना। दूध, दूध भी है और दही भी है। हमारे घर कोई पड़ोसी आया और पूछा कि दही है क्या? घर में दूध है, जमा दो तो कुछ समय में दही बन जाएगा। दूध में हम दही देख रहे हैं, पर दही नहीं है। उससे दही बन सकता है, यह बात पक्की है। अब कोई आकर पूछे, दूध है? तो हम यह नहीं कह सकते कि दही है ले जाओ, इससे दूध बना लो। एक बार दूध से दही बन गया, तो अब दही से दूध नहीं बन सकता। सत् से असत् का निर्माण हो गया, अब असत् में सत् नहीं रह सकता। बहुत ही गहरी बात है, इसे समझना है। हमें लगता है कि सूर्य में प्रकाश है, पर सत्य तो यह है कि सूर्य में प्रकाश नहीं है, परन्तु सूर्य के कारण प्रकाश है। सूर्य प्रकाश का आदि-कारण है पर सूर्य में प्रकाश नहीं है। असत् की सत्ता, सत् के अभाव के कारण से दिखती है।

13.13

सर्वतः(फ्) पाणिपादं(न्) तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः(श्) श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥13.13॥

वे (परमात्मा) सब जगह हाथों और पैरों वाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखों वाले (तथा) सब जगह कानों वाले हैं। (वे) संसार में सबको व्याप्त करके स्थित हैं।

विवेचन- सब ओर से वह हाथ-पैरों वाला, सब ओर से वह नेत्र-मुखों वाला और सब ओर से वह कानों वाला है, वह सबको व्यक्त करके स्थित है। श्रीभगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि उनके कोई हाथ-पैर नहीं परन्तु सर्वत्र उनके हाथ-पैर हैं। अब सोचिए कि सब ओर किसी के हाथ कैसे हो सकते हैं? किसी के पैर हैं, हाथ हैं, आँखें हैं, पर किसी के सर्वत्र आँखें कैसे हो सकती हैं? परमात्मा सब ओर व्याप्त हैं। वे सभी ओर जा सकते हैं, सर्वत्र उनके पैर हैं। वे कहीं भी, कुछ भी कर सकते हैं क्योंकि सर्वत्र उनके हाथ हैं। परमात्मा सब ओर व्याप्त होकर स्थित हैं।

13.14

सर्वेन्द्रियगुणाभासं(म्), सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं(म्) सर्वभृच्चैव, निर्गुणं(ङ्) गुणभोक्तृ च॥13.14॥

वे (परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित हैं (और) सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को प्रकाशित करने वाले हैं; आसक्ति रहित हैं और सम्पूर्ण संसार का भरण-पोषण करने वाले हैं; तथा गुणों से रहित हैं (और) सम्पूर्ण गुणों के भोक्ता हैं।

विवेचन- वे सम्पूर्ण इन्द्रियों में विषय को जानने वाले हैं पर वास्तव में सभी इन्द्रियों से रहित हैं और सबका भरण-पोषण करने वाले हैं। वे निर्गुण होकर भी सभी गुणों को भोगने वाले हैं। सोचने पर समझने में कठिन लगता है पर विचार करने पर समझ में आ जाता है। हम स्वयं को गौरवर्णीय अर्थात् गोरा मानते हैं क्योंकि किसी साँवले व्यक्ति को देखते हैं तो हम स्वयं को गोरा मान लेते हैं। किसी अङ्ग्रेज के सामने जब जाते हैं तो स्वयं को काला मान लेते हैं। किसी अफ्रीकन नीग्रो के सामने जाते हैं तो अपने आप को गोरा मानते हैं। वास्तविकता में न तो हम काले हैं, न ही गोरे। जब किसी गोरे या काले व्यक्ति के सामने खड़े हो जाते हैं तो स्वयं को उसके विपरीत मानने लगते हैं।

मैं सम्पन्न हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं पिता हूँ, मैं पुत्र हूँ, ये सारी अनुभूतियाँ दूसरों के होने पर होती हैं। यदि दूसरा न हो तो क्या सम्पन्न, गरीब, पिता, पुत्र की स्थितियाँ हमारे सामने खड़ी होती हैं? नहीं! हम स्वयं को जो कुछ भी मानते हैं, वह दूसरों की उपस्थिति में मानते हैं इसलिए वह परमात्मा सत् है और असत् की सत्ता नहीं है।

13.15

बहिरन्तश्च भूतानाम्, अचरं(ञ्) चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं(न्), दूरस्थं(ञ्) चान्तिके च तत्॥13.15॥

वे (परमात्मा) सम्पूर्ण प्राणियों के बाहर-भीतर (परिपूर्ण हैं) और चर-अचर (प्राणियों के रूप में) भी (वे ही हैं) एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी (वे ही हैं) वे अत्यन्त सूक्ष्म होने से जानने में नहीं आते ।

विवेचन- वे सारे चर-अचर भूतों में, बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं। चर-अचर भी वे ही हैं और सूक्ष्म होने के कारण अनभिज्ञ हैं।

श्रीभगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि ये जो परमात्मा हैं, वे अनभिज्ञ हैं जिनको उन्होंने बारहवें श्लोक में ज्ञेय कहा था। क्षेत्र के माध्यम से उन्हें जानना सम्भव नहीं क्योंकि वे अनभिज्ञ हैं। तो अब हम उन्हें जानेंगे कैसे? परन्तु जानने का प्रयास जब समाप्त हो जाता है, हम अपनी बुद्धि को अर्पित कर देते हैं। जब बुद्धि को अर्पित कर देते हैं तो ज्ञेय हो जाता है।

एक महात्मा जी का उदाहरण लेते हैं, जिन्होंने सत्सङ्ग में कहा कि श्रीभगवान् चाहें तो एक प्याले में समुद्र को भर सकते हैं। एक छोटा बालक था। महात्मा जी उसके गुरु थे। वह बालक प्याली लेकर समुद्र के समीप पहुँच गया। बालक सोचने लगा कि समुद्र इस प्याली में कैसे आएगा? सायंकाल महात्मा जी भ्रमण हेतु निकले तो देखते हैं कि एक बच्चा जो उनका शिष्य है, समुद्र के तट पर खड़ा है। महात्मा जी पूछते हैं, "पुत्र! बताओ तुम यहाँ पर क्यों खड़े हो?" बच्चे ने कहा कि गुरुजी आप ने प्रवचन में कहा था कि प्याले में समुद्र आ सकता है। सवेरे से ही मैं यहाँ खड़ा सोच रहा हूँ कि प्याले में समुद्र कैसे आ सकता है? आपका कहा असत्य तो हो नहीं सकता, पर मेरी समझ में यह नहीं आ रहा कि आपने किस कारण से यह कहा?

महात्मा जी मुस्कुराए, बालक से पूछा, "क्या सच में तुम यह जानना चाहते हो कि प्याले में समुद्र कैसे आएगा?" बालक का उत्तर था, "हाँ! मैं जानना चाहूँगा।" महात्मा ने कहा, "सोच लो, मैं इस प्याले में समुद्र को भर तो दूँगा, पर फिर तुम्हें यह प्याला वापस नहीं मिलेगा।" बालक ने कहा, "प्याला किस को चाहिए, आप प्याले में समुद्र को भर कर दिखाइए।" फिर क्या था! महात्मा जी ने प्याले को लेकर उछाल कर दूर समुद्र में फेङ्क दिया। धीरे-धीरे प्याली समुद्र के तल में पहुँच गयी। महात्मा जी ने बालक से पूछा, "अब बताओ! प्याली कहाँ है?" बालक ने कहा, "प्याली तो समुद्र के तलहटी में है।" महात्मा जी कहते हैं, "अब बताओ! समुद्र की तलहटी के मध्य में स्थित प्याली में समुद्र है कि नहीं?" बालक ने कहा, "हाँ है।" महात्मा जी ने कहा, "देखो! अब उस प्याली को फिर से प्राप्त नहीं कर सकते।

जिस क्षण प्याली को समुद्र में अर्पित कर दिया, सारा समुद्र उस प्याली में समा गया। जब तक बुद्धि से परमात्मा को पाने का प्रयास करते रहेंगे, उनको प्राप्त नहीं कर सकते। जब बुद्धि से निकलकर स्वयं को परमात्मा को अर्पित कर देते हैं, तो जो परमात्मा अनभिज्ञ थे, वे ज्ञेय हो जाते हैं।

बारहवें श्लोक में वे अनभिज्ञ थे, क्योंकि बुद्धि से उन्हें जानने का प्रयास कर रहे थे। क्षेत्र उस क्षेत्रज्ञ को जानने का प्रयास कर रहा था। जब क्षेत्र समाप्त हो जाता है-

जानत तुम्हहि, तुम्हइ होइ जाई।

तो अब वह प्याली ही समुद्र है, समुद्र ही प्याली है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहिं

प्रेम गली अति सांकरी, या में दो न समाहिं।।

एक बार एक सेठ जी रेलगाड़ी से दिल्ली जा रहे थे। गाड़ी में बहुत ही निपुण चोर होते हैं। एक निपुण चोर उस दिन भी उस गाड़ी में आ गया और सेठ जी के पहनावे को देखा। वह दूर से ही सेठ जी और बेटे की बात सुनता रहा। बेटा अपने पिताजी से कह रहा था, "पिताजी देखिए! दस हजार रुपए हैं। सम्भाल कर रखिए।" सेठ जी कहते हैं, "बेटा, तुम चिन्ता मत करो।" चोर को पता चल गया कि सेठ जी के पास दस हजार रुपए हैं। चोर ने गाड़ी के टी.टी से कहा कि पांच सौ रुपए ले लीजिये, मुझे सेठ जी के पास वाली सीट चाहिए। पुराने समय की बात है, उस समय पाँच सौ रुपए भी बहुत मूल्य रखते थे। चोर ने पाँच सौ रुपए देकर सेठ जी के निकट वाली सीट ले ली। उस चोर ने सेठ जी से मित्रता करना आरम्भ किया। सेठ जी अनुभवी थे, थोड़े ही समय में जान लिया कि इस व्यक्ति की सोच कुछ ठीक नहीं है। यह व्यक्ति बहुत अच्छी-अच्छी बातें तो कर रहा है पर सन्देहास्पद है। चोर ने सेठ जी से कहा, "सेठ जी, क्या आप मेरे सामान का ध्यान रखेंगे? मैं शौचालय हो आता हूँ।" सेठ जी ने कहा, "ठीक है, हो आओ।" दस मिनट बाद चोर वापस आ जाता है। कुछ समय पश्चात् सेठ जी चोर से कहते हैं, "मैंने तुम्हारे सामान का ध्यान रखा था। अब तुम मेरे सामान का ध्यान रखो। मैं हो आता हूँ।" चोर मन ही मन हँसता है, उसे यही तो चाहिए था। सेठ जी के जाने के बाद चोर ने सारा सामान खङ्गाला, दस हजार छोड़ो, दस रुपए भी वह ढूँढ नहीं पाया। पाँच सौ रुपए तो लग चुके हैं, माल रखा होगा तो कहाँ? सेठ जी ने धोती और बनियान के अतिरिक्त कुछ पहन भी नहीं रखा है। यदि कुर्ता पहने होते तो हो सकता था कि जेब में पैसे रखे हों, पर नहीं। पिता-पुत्र की बातचीत सुनी थी कि दस हजार रुपए हैं। चोर बहुत ही असहज हो गया था। सेठ जी ने पूछा, "क्या बात है?" उसने कहा, "कुछ नहीं।" सेठ जी ने पूछा, "कोई तो बात है, तुम दुःखी लग रहे हो।" चर्चा करते-करते सेठ जी का स्टेशन आने वाला था। चोर मन की बात सेठ जी से साँझा करता है। कहता है, "मैं तो चोर हूँ, आपको लूटने का मन बनाया था। मेरे पाँच सौ रुपए भी लग गये और पता नहीं चल रहा है कि माल कहाँ रखा है। मैंने सब कुछ बता दिया है, चोरी तो नहीं करूँगा किन्तु कृपया बता दीजिये कि माल कहाँ रखा है? और कोई बात नहीं।" सेठ जी कहते हैं, "चलो तुमने सच कहा है, इसलिए स्टेशन पर उतरते समय बता देता हूँ।" स्टेशन आ गया, सेठ जी चोर के बैग के नीचे रखे हुए दस हजार रुपए निकाल लेते हैं तथा चोर से कहते हैं, "मुझे पता था रूपयों के लिए तुम मेरा सारा सामान ढूँढोगे, पर अपना सामान नहीं ढूँढोगे और वही हुआ बस! मेरे रूपए तुम्हारे सामान के नीचे रखे हुए थे और तुम उसे छोड़ कर यहाँ-वहाँ ढूँढ रहे थे।"

हम भी यही कर रहे हैं। वह परमात्मा तो भीतर बैठा हुआ है और हम उसे वहाँ छोड़ सर्वत्र ढूँढ रहे हैं। ऐसा करने पर वह मिलेगा नहीं, वह मिलेगा तो हमारे भीतर ही। अन्तर्मन की शुद्धि के लिए चाहे कितनी भी यात्रायें कर लो, कितनी ही पूजा कर लो पर वह मिलेगा हमारे भीतर ही, जैसे उस चोर का बैग। वैसे ही असत्य का बैग हटाना आवश्यक है।

इसके साथ ही हरि नाम सङ्कीर्तन करते हुए आज का सत्र समाप्त हुआ तथा प्रश्नोत्तर सत्र आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता- इन्दु दीदी

प्रश्न- कई बार जैसे अपने घर के ही लोग होते हैं और हमें लगता है कि हम अपने बच्चों को वहाँ उनके पास भेजेंगे तो वो उनको कुछ गलत सिखा देंगे। ऐसे में क्या करना चाहिए?

उत्तर- एक-दो घण्टे में कोई भी कुछ गलत नहीं सीख सकता। हमें परिवार के महत्त्व में हमेशा आस्था रखनी चाहिए और बच्चों को अवश्य वहाँ भेजना चाहिए। कई बार ऐसा हमारे मन का ही द्वेष होता है और वास्तविकता में ऐसा कुछ होता नहीं है।

प्रश्नकर्ता- विकास भैया

प्रश्न- अध्याय चार के श्लोक क्रमाङ्क चौंतीस में

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।

गुरु धारण करने से पहले क्या हम, आपने जो चार बातें बताई थीं, उन पर उनको परख सकते हैं, उनसे प्रश्न कर सकते हैं?

उत्तर- ऐसा कहा जाता है कि-

पानी पियो छान कर और गुरु करो जान कर

तो गुरुजी को धारण करने से पहले आप उनके बारे में कई तरह के प्रश्न कर सकते हैं लेकिन एक बार जब आपने उनको अपना गुरु मान लिया तो उसके बाद जैसा वे कहेंगे वैसा ही करना है और उनकी आज्ञा की अवहेलना कभी भी नहीं करनी है।

प्रश्नकर्ता- ए. एफ हिरवानी भैया

प्रश्न- क्षमा करने की भी क्या कोई सीमा होती है? हम जीवन में कितना किसी को क्षमा कर सकते हैं और कब क्षमा कर देना चाहिए?

उत्तर- क्षमा करने की कोई सीमा नहीं है। हमें क्षमा करते ही रहना चाहिए लेकिन राज धर्म में रहते हुए हमें क्षमा नहीं करना होता, जैसे हमारे प्रधानमन्त्री जी के लिए पाकिस्तान को क्षमा कर देना उचित नहीं था लेकिन व्यक्तिगत बातों के लिए हमें हमेशा क्षमा करना चाहिए और क्षमा प्रार्थी को तो, चाहे उसने कैसा भी अपराध किया हो जब तक उससे आपका कुछ बहुत बुरा नहीं होने वाला है तो क्षमा कर ही देना चाहिए।

प्रश्नकर्ता- वीना दीदी

प्रश्न- आपने बताया कि हमें अपने पति, पुत्र की सेवा करनी चाहिए लेकिन कई बार कुछ अपेक्षाओं के कारण ऐसा सम्भव नहीं होता है। उसके लिए क्या उपाय है?

उत्तर- अगर आप अपनी अपेक्षाओं को एक और रखकर ऐसा मानेंगे कि मेरे पति, पुत्र, सम्पत्ति और घर इत्यादि मेरे नहीं हैं बल्कि श्रीभगवान् के हैं और मैं तो केवल उनकी देखरेख करने के लिए निर्धारित हुई हूँ और मैं किसी भी तरह से मालिक नहीं हूँ। ऐसे मानते हुए अगर आप अपने श्रीभगवान् को खुश करने के लिए उनकी देखभाल करेंगी तो अवश्य ही ऐसा कर पाएँगी और फिर किसी तरह की अपेक्षा भी आपको परेशान नहीं करेगी।

प्रश्नकर्ता- अपूर्वा पाण्डे दीदी

प्रश्न- अगर कोई हमें कुछ गलत बोल कर जाए तो क्या हमें उसे उत्तर में कुछ बोलना चाहिए?

उत्तर- अधिकतर स्थितियों में कुछ भी बोलना नहीं चाहिए लेकिन अगर कोई आपसे छोटा ऐसा करता है और आपको लगता है कि उसको सही बात बताने से उसका कल्याण हो सकता है तो आप उसको उसके हित के लिए बोल सकते हैं। बड़े व्यक्ति के लिए कुछ भी बोलना उचित नहीं होगा परन्तु जब कभी भी आपको कोई बात बहुत अनैतिक और सङ्कट वाली लगे तब आप अपने से बड़े को भी बोल सकते हैं और अपने भाव व्यक्त कर सकते हैं।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!

हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा

संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !

संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!

Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||

||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||